अनुक्रम

क्या हमारे मगध की मौलिकता में कुछ कमी है ?

बारह साल पहले विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के भारतीय भाषा कार्यक्रम ने हिंदी में व्यवस्थित अनुसंधानपरक चिंतन और लेखन को बढ़ावा देने की कोशिशें शुरू की थीं। अब यह उद्यम अपने दूसरे चरण में पहुँच गया है। पहला दौर मुख्यत: अंग्रेज़ी में और यदा-कदा अन्य भारतीय भाषाओं में लिखी गयी बेहतरीन रचनाओं को अनुवाद और सम्पादन के ज़रिये हिंदी में लाने का था। इसमें मिली अपेक्षाकृत सफलता के बाद अंग्रेज़ी से अनुवाद और सम्पादन पर ज़ोर क़ायम रखते हुए भारतीय भाषाओं में भी समाज-चिंतन करने की दिशा में बढ़ने की ज़रूरत महसूस हो रही थी। लेकिन इस पहलक़दमी के साथ व्यावहारिक और ज्ञानमीमांसक धरातल पर एक रचनात्मक मुठभेड़ की पूर्व-शर्त जुड़ी हुई थी। सीएसडीएस के स्वर्ण जयंती वर्ष में समाज-विज्ञान और मानविकी की अर्धवार्षिक पूर्व-समीक्षित पत्रिका ***प्रतिमान*** *समय समाज संस्कृति* का प्रकाशन इस शर्त की आंशिक पूर्ति कर सकता है। पिछले कुछ वर्षों में अध्ययन-पीठ में अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिंदी में भी लेखन करने वाले विद्वानों की संख्या बढ़ी है। साथ ही भारतीय भाषा कार्यक्रम के इर्द-गिर्द कुछ युवा और सम्भावनापूर्ण अनुसंधानकर्त्ता भी जमा हुए हैं। ***प्रतिमान*** का मक़सद इस जमात की ज़रूरतें पूरी करते हुए हिंदी की विशाल मुफ़स्सिल दुनिया में फैले हुए अनगिनत शोधकर्त्ताओं तक पहुँचना है। समाज-चिंतन की दुनिया में चलने वाली सैद्धांतिक बहसों और समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श का केंद्र बनने के अलावा यह मंच अन्य भारतीय भाषाओं की बौद्धिकता के साथ जुड़ने के हर मौक़े का लाभ उठाने की फ़िराक़ में भी रहेगा।
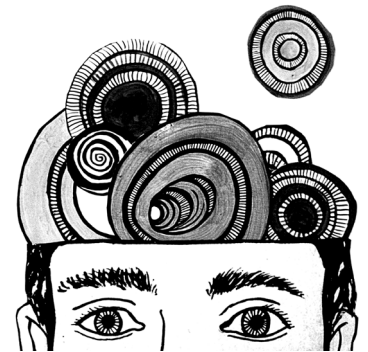
पेचीदा सवालों का सामना किया, उनकी एक बानगी देखने लायक है। एक आश्चर्यजनक मासूमियत के साथ हमसे पूछा गया कि हिंदी में लिखने से क्या होगा, क्योंकि अंग्रेज़ी में तो सारा काम चल ही रहा है। इस सवाल का जवाब अंग्रेज़ी के महानगरीय प्रभुत्व के परे मौजूद मुफ़स्सिल भारत (जहाँ का सारा बौद्धिक कार्य-व्यापार भारतीय भाषाओं में ही चलता है) की विराट हक़ीक़तों की तरफ इशारा करके दिया जा सकता है। लेकिन प्रश्नों का दूसरा सिलसिला ज्ञानमीमांसा और संज्ञानात्मक उद्यम के धरातल से आया था। हमसे पूछा गया कि हिंदी या किसी अन्य भारतीय भाषा में ज्ञान-रचना से हमें किस तरह के संज्ञानात्मक लाभ की अपेक्षा है? क्या यह लाभ अंग्रेज़ी में लिखने से होने वाले लाभ से भिन्न होगा? इस लाभ को हम कैसे नापेंगे? भारतीय भाषाओं में उपलब्ध दस्तावेज़ों, ग्रंथों और अन्य सामग्री की तह में जा कर अंग्रेज़ी में ज्ञान-रचना करते रहने से हमें वह कौन सी ज्ञानमीमांसक उपलब्धि नहीं हो रही है जो हिंदी या किसी अन्य भारतीय भाषा में समाज-चिंतन अभिव्यक्त करने से होने लगेगी?

भारतीय भाषा कार्यक्रम जैसी कोशिशों में लगे सभी विद्वानों को इन सवालों पर गहराई से ग़ौर करने की ज़रूरत है। इनके बने-बनाए जवाब मौजूद नहीं हैं। ***प्रतिमान*** के प्रकाशन की शुरुआत के इस ऐतिहासिक क्षण पर हम केवल यह कहने की स्थिति में हैं कि ज्ञान-रचना के मौजूदा मानचित्र को जिस ज्ञानमीमांसा और संज्ञानात्मकता की रेखाओं से बनाया गया है, वह पूर्व-निर्धारित अर्थों और तात्पर्यों की दिक् और काल से परे समझी जाने वाली स्याही से खींची गयी हैं। हमें तो नयी ज्ञानमीमांसा, उससे जुड़ी नयी संज्ञानात्मकता और तात्पर्यों के ऐसे नये परिक्षेत्रों का उत्पादन करना है जो भारतीय भाषाओं के सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक संसार की देन होंगे। थमायी गयी ज्ञानमीमांसा की जगह उस संज्ञानात्मकता को सम्भवतः आज के मुक़ाबले हम कहीं ज़्यादा अपना कह सकेंगे। शायद वह हमारा अपना प्रमाणशास्त्र होगा जिसके आधार पर हम थमाये गए तात्पर्यों की जाँच कर सकेंगे।

अपनी इसी दावेदारी को और पुष्ट करने के लिए *प्रतिमान* के इस पहले अंक की विविध सामग्री के केंद्र में ज्ञान-रचना का प्रश्न ही रखा गया है। इसीलिए हम एक प्राश्निक की भाँति किसी दूसरे से नहीं बल्कि श्रीकांत वर्मा के लहजे में अपने-आप से पूछ रहे हैं कि आख़िर हमारे मगध की मौलिकता के भीतर ऐसी क्या कमी है कि हमारी आधुनिकता के वितान में अंग्रेज़ी के बिना विमर्श और विचार कल्पनातीत हो जाता है? यह कोई नया सवाल नहीं है। इसे बीसवीं सदी के दूसरे दशक में दार्शनिक और योगी श्री अरविंद ने पूछा था। यही सवाल उसके कुछ वर्ष बाद तीसरे दशक में कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य ने उठाया था। यही सवाल ए.के. रामानुजन ने अपने विशिष्ट खिलंदड़े अंदाज़ में इस तरह पूछा था कि क्या चिंतन का कोई भारतीय तरीक़ा है? ये तीनों दस्तावेज़ और उनका भाष्य यहाँ पेश है; और इस विषय पर बहस आगे के अंकों में भी जारी रहेगी। जो बातें श्री अरविंद, भट्टाचार्य और रामानुजन ने पूछी थीं, उन्हीं को कुछ दूसरे शब्दों और दूसरे लहजे